वेद और आत्मज्ञानकी कुंजी

(श्रीअभयदेवजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शुक्लयजुर्वेदसंहिताके अन्तिम चालीसवें अध्यायके निम्नलिखित पंद्रहवें मन्त्रमें एक ओर जहाँ आत्मबोधके उपायका प्रतिपादन है, वहीं वेदोंके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझनेकी कुंजी भी विद्यमान है। 'जीव' और 'परम'—इन दोनों दृष्टियोंसे वेदका परम प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। वेदमें जीवात्मा और परमात्माका प्रतिपादन होनेके कारण प्रकारान्तरसे स्वयं वेदको समझनेके लिये समीचीन दृष्टिका भी इस मन्त्रमें अनायास प्रतिपादन हो जाना स्वाभाविक है। प्रसंगोपात्त मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

'हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर! सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है; आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये उस आवरणको आप हटा लीजिये।'

—इस मन्त्रमें साधक स्वयंको 'सत्यधर्मा' कह रहा है। जिसका धर्म सत्य है, उसे 'सत्यधर्मा' कहते हैं। धर्म वह होता है, जो धारण करनेवाला है अर्थात् जीवनका जो भी आधार है, उसका नाम 'धर्म' है। जीवन निराधार नहीं है, उसका कोई-न-कोई आधार अवश्य है। चालीसवें अध्यायके आदिम मन्त्र (**ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**)-में इस आधारको 'जगती' कहा गया प्रतीत होता है। वैदिक कोश 'निघण्टु' के अनुसार 'जगती' का अर्थ है—'गौ'। '**गौ**' शब्द पशु-विशेषकी संज्ञाके साथ-साथ इन्द्रियवाचक भी है। मनुष्यके जगत्की सीमा उसकी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानकर्म—उभयात्मक इन्द्रिय—मनद्वारा निर्धारित होती है। जिस मनुष्यका जो और जितना इन्द्रियानुभूत है, वह और उतना उसका संसार है।

साधक सत्यको अपने जगत्का आधार या धर्म बनाना चाहता है। सत्यसे बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। वस्तुतः सत्य ही वह धर्म या धारक तत्त्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं। मात्र लोकव्यवहारके लिये ही सत्य आवश्यक नहीं है; बल्कि वह स्वतः एक नित्य-सनातन, शाश्वत-स्वतन्त्र आधार या धर्म भी है। वह चरम और पूर्ण तत्त्व है। आत्मा इसी 'शाश्वतधर्म' का गोप्ता कहा गया है। आत्मा स्वरूपसे सत्यधर्मा है।

सत्यधर्मा आत्माको अपना नाम सार्थक करनेके लिये अर्थात् सत्यको अपना धर्म बना पानेके लिये उसे सत्यका दर्शन हो, यह अपेक्षित है। दर्शनके लिये 'दृष्टि' चाहिये। देखनेके लिये आँखें सब प्राणियोंको प्राप्त हैं, परंतु आँखोंसे वे केवल अपना भोग देखते हैं। भोगसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। अतः सत्यके दर्शनके लिये एक अलग ही दृष्टि अपेक्षित है। जीवनके प्रति भोगपरक दृष्टिकी अपेक्षा आत्मोन्मुख दृष्टिकोणद्वारा ही आत्म-सत्य अनुभवमें आ सकता है। अतः मन्त्रमें सत्यधर्मा साधकद्वारा दर्शनके लिये '**सत्यधर्माय दृष्टये**'—ऐसा कहा गया है। जिस किसीको भी सत्यात्माका साक्षात्कार करना हो, उसे योगोन्मुख जीवन-पद्धति ग्रहण करना होगा, ऊपर-ऊपरसे भोगमयी जीवन-पद्धतिद्वारा आत्म-सत्य प्रत्यक्ष नहीं होता।

आत्मा स्वरूपसे सत्य है ही, पर सबको ऐसा अनुभव नहीं होता। अपने अजर-अमर-सनातन स्वरूपकी प्रायः विस्मृति ही रहती है। ऐसा क्यों होता है? उत्तर मन्त्रमें विद्यमान है कि सत्यपर एक आवरण पड़ा हुआ है। इस आवरणको चालीसवें अध्यायके तृतीय, नवम और द्वादश मन्त्रोंमें पुनः-पुनः '**अन्धेन तमसावृताः**', '**अन्धं तमः**', '**अन्धं तमः**' कहा गया है। इन 'अन्धतम' का स्वरूप भी इसी अध्यायमें यत्र-तत्र संकेतित है। भोगवृत्ति (मन्त्र १), वित्तलोभ (मन्त्र १), कर्मलेप (मन्त्र २), आत्म-हनन (मन्त्र ३), विजुगुप्सा अथवा विचिकित्सा (मन्त्र ६), मोह और शोक (मन्त्र ७), विद्या-अविद्यासे और सम्भूति-असम्भूतिसे पृथक् आत्माकी सत्ताको न समझ पाना (मन्त्र १०, १३)—ये आत्मापर पड़े हुए 'अनृत' या असत्यके आवरण हैं।

चूँकि आत्मा स्वरूपसे सत्य है, अतः असत्य उसे अच्छा नहीं लगता। कोई हमसे झूठ बोले या हमें धोखा दे तो हमें विषाद इसी कारण होता है। प्रायः हम असत्यको जानते-पहचानते हैं, फिर भी उससे चिपके रहते हैं। कौन नहीं जानता कि संसार अनित्य है। ***'जो आया है सो जायगा, क्या राजा क्या रंक।'*** तथापि 'सुत, दारा अरु लक्ष्मी' से असक्ति होती ही है, पुत्र-वित्त-लोककी एषणाएँ सताती ही हैं। इतना ही नहीं, ये बड़ी आकर्षक, सुन्दर और प्रिय लगती हैं। इनके बिना जीवन-यात्रा दुष्कर है, ऐसी

अनिवार्यता हम इनकी मानते हैं। इसी स्थितिको मन्त्रमें 'हिरण्मय पात्र'—हित-रमणीय या सुन्दर—सुनहरा ढक्कन कहा गया है। ढक्कनसे प्यार है, ढक्कनसे ढके हुए सत्यसे मात्र वाचिक औपचारिकता है। मन्त्रके पूर्वार्धको हम अपने जीवनका, जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोणका, अपनी वर्तमान जीवन-पद्धतिका यथार्थ वर्णन मान सकते हैं।

सत्यके चारों ओर चमकीला आवरण है। अतः आवरणकी चकाचौंधसे मनुष्यकी दृष्टि चौंधियाई हुई है। आत्मबोधके लिये इस आवरणका हटना बहुत जरूरी है। इसके हटे बिना सब परिश्रम व्यर्थ है। जप-तप, पूजा-पाठ, सत्संग, व्रत-उपवास, सब कुछ तभी सार्थक हैं, यदि इनसे अनृतका अपिधान या ढक्कन हटे। अन्यथा ये सब मनको बहलाना, फुसलानामात्र हैं। मनुष्य पत्तोंको सींचनेमें लगा हुआ है, जबकि मूल सूखे जा रहे हैं। यह सब हिरण्मय पात्रद्वारा सत्यका ओझल हो जाना ही तो है। मनुष्य ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत आगे निकलता जा रहा है। उसमें कर्मठता और परिश्रम भी खूब है, पर अपनी प्रभूत सामर्थ्यके होते हुए भी वह अनात्मके पंकमें धँसा हुआ है। आत्माके खोजका उसे स्पर्श भी नहीं हुआ है।

लगता है, मनुष्यका निस्तार अपनेसे विराट् विश्वात्म-शक्तिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। अतः मन्त्रमें प्रार्थना है उस पोषकसे, जो साधकको वास्तविक पोषण प्रदान कर सकता है। वित्तलोभ (मन्त्र १) मनुष्यको इस कारण ही तो होता है कि वित्तसे पोषणकी आशा होती है, पर पोषकतत्त्व धन नहीं है, बल्कि कुछ दूसरा ही है। उसे सुझानेके लिये ईश्वरको पूषा या पोषक कहा गया है। अनृतसे तो समूल परिशोषण ही होना है। जब पूषा अपना दाहिना हाथ हमारे ऊपर परोक्षसे रखेंगे तभी हमारा सतत विनाश रुक पायेगा। तभी तो एक वेदमन्त्रमें साधक ऋषि प्रार्थना करता है—

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥

(ऋक्० ६। ५४। १०)

अर्थात् पूषा परोक्षसे दाहिने हाथको धारण करे, जिससे हमारा नष्ट-वैभव पुनः आ जाय। सत्यात्माको 'पूषा' कहना, यह प्रेम या भक्तिका शब्द है। ज्ञान और कर्मकी पूर्णता भक्तिमें है। भक्तिका अभिप्राय है आत्माके गुणोंको जीवनमें सँजोना। सर्वत्र आत्मदर्शन होना ही घृणा-मोह तथा शोकसे उबरनेका उपाय है। यह जगत् आत्मामें विद्यमान दिखायी पड़े और जगत्में सर्वत्र आत्माकी अनुभूति हो, आत्मा ही 'जगत्' हो गया है—यह विज्ञान, यह एकत्वानुदर्शन (मन्त्र ६, ७) जीवनमें भक्तिके फलित हो जानेपर ही उभरता है, यही आत्मज्ञान है। इसके हो जानेपर कोई पराया नहीं रहता और साधकी प्रत्येक चेष्टा प्रेममय भगवत्सेवा हो जाती है।

वेदकी कुंजी

जिस प्रकार मन्त्रमें आत्मज्ञानकी कुंजी है—राग-द्वेषके हिरण्मय पात्रका दैवी कृपासे दूर होना, उसी प्रकार उसमें वेदके तत्त्वको समझनेकी कुंजी भी है।

वेदोंकी शैली देव-स्तवनकी है। अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण, मित्र, मरुत्, पर्जन्य, विष्णु, वसु, रुद्र, ऋभु, विश्वेदेव आदि बहुतसे देवोंकी स्तुतियाँ वेदोंमें हैं। ये सब देव 'हिरण्मय पात्र' हैं और आत्मा वह सत्य है, जो इन देवोंकी ओटमें विद्यमान है। ज्ञान और कर्मको भक्तिमय कर देनेपर, जगत् और जीवनमें सर्वत्र आत्माके गुणोंका सागर लहराता हुआ अनुभवमें आयेगा। वेदोंका स्थूल अभिप्राय यज्ञपरक, कर्मकाण्डपरक है। उनका सूक्ष्म आशय देवतापरक है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्पर्य आत्मापरक है। स्वयं वेदने इस तथ्यका स्पष्टरूपसे वर्णन किया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋक्० १। १६४। ४६)

अर्थात् 'अग्निको इन्द्र, मित्र तथा वरुण भी कहते हैं और वह दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण है। 'एक सत्' को ज्ञानीजन अनेक प्रकारसे बोलते हैं और अग्निको यम एवं मातरिश्वा कहते हैं।'

इस मन्त्रमें अग्निदेवताको 'हिरण्मय पात्र' समझें। अग्नि-प्रतीकमें आत्मतत्त्वका दर्शन या ध्यान करना चाहिये। आत्माग्नि वही 'एक सत्' (**ॐ तत् सत्**) है—जो अन्यत्र इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा-जैसे प्रतीकोंके रूपमें विद्यमान है। ज्ञानी इस तथ्यको जानते हैं कि सत्य सर्वत्र वही है और एक है, हिरण्मय आवरण भले ही विभिन्न प्रकारके हों। उस 'एक सत्' को इस चालीसवें अध्यायमें 'ॐ' नाम दिया गया है। 'ॐ' वेदका वह ढाई अक्षर है, जिसे पढ़ लेनेपर वैदिक एकेश्वरवादके विषयमें कोई शंका नहीं रहती; क्योंकि यही 'ॐकार' वेदज्ञान एवं आत्मज्ञानका मूल है।